Presence Without Power: Reservation, Descriptive Representation, and the Limits of the "Sarpanch-Pati" Critique in Rural Rajasthan

उपस्थिति बनाम शक्ति
आरक्षण, वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व, और ग्रामीण राजस्थान में 'सरपंच-पति' की आलोचना की सीमाएँ

***Pramod Kanwar, **Dr. Ram Darshan**
*Research Scholar, **Research Guide
Dept of Political Science, JJT University

[1]*Date of Receiving: 28 December 2025;*
Date of Acceptance: 22 January 2026;
Date of Publication: 29 January 2026

Abstract

India's Panchayati Raj Institutions today comprise nearly forty-six percent women among elected representatives—an achievement unparalleled in the world in numerical terms. Yet the criticism encapsulated in the term *sarpanch-pati* persists, alleging that the elected woman often functions merely as a signatory while real authority remains in the hands of a male relative. This article seeks to understand this contradiction through a foundational distinction in representation theory: the difference between descriptive representation (who is present) and substantive representation (who acts).

Its central argument is that the descriptive presence secured through reservations is a necessary, but not sufficient, condition for substantive representation. The gap between the two should not be interpreted as the moral failure of individual women representatives; rather, it is a structural outcome produced by the interaction of seat rotation, party gatekeeping, and the intersecting hierarchies of caste and class. Rajasthan—where entrenched patriarchy, fifty percent reservation for women, and three decades of experience with local governance coexist—constitutes a critical case for examining this question.

By integrating theoretical frameworks, causal evidence, and institutional analysis, the article argues that the popular idiom *sarpanch-pati* accurately names a real problem but simultaneously obscures its deeper institutional roots.

Keywords: *Descriptive Representation; Substantive Representation; Women's Reservation; Panchayati Raj; Sarpanch-Pati; Rajasthan; Intersectionality.*

[1] *How to cite the article:* Panwar P., Darshan R (January 2026); Presence Without Power: Reservation, Descriptive Representation, and the Limits of the "Sarpanch-Pati" Critique in Rural Rajasthan; *International Journal of Law, Management and Social Science*, Vol 10, Issue 1, 25-40

सार

भारत की पंचायती राज संस्थाओं में आज लगभग छियालीस प्रतिशत निर्वाचित प्रतिनिधि स्त्रियाँ हैं—संख्या की दृष्टि से विश्व में अप्रतिम। फिर भी 'सरपंच-पति' की आलोचना अनवरत बनी हुई है, जो यह आरोप लगाती है कि निर्वाचित स्त्री प्रायः एक हस्ताक्षर मात्र है और वास्तविक शक्ति किसी पुरुष-सम्बन्धी के हाथ में रहती है। यह आलेख इस अन्तर्विरोध को प्रतिनिधित्व-सिद्धान्त की उस आधारभूत कोटि के सहारे समझने का प्रयास करता है जो वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व (कौन उपस्थित है) और सारगर्भित प्रतिनिधित्व (कौन कार्य करता है) के बीच भेद करती है। इसका केन्द्रीय प्रतिपादन यह है कि आरक्षण द्वारा सुनिश्चित वर्णनात्मक उपस्थिति सारगर्भित प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक तो है किन्तु पर्याप्त नहीं; और इन दोनों के बीच का अन्तराल किसी व्यक्ति-विशेष स्त्री का नैतिक दोष नहीं, अपितु एक संरचनात्मक परिणाम है—सीटों के आवर्तन, दलीय द्वारपालन, तथा जाति-वर्ग की प्रतिच्छेदी श्रेणीबद्धता के परस्पर-संयोग से उत्पन्न। राजस्थान—जहाँ गहन पितृसत्ता, पचास प्रतिशत आरक्षण, और तीन दशकों का अनुभव एक साथ विद्यमान हैं—इस प्रश्न के लिए एक निर्णायक प्रकरण है। आलेख सैद्धान्तिक ढाँचे, कार्य-कारण-मूलक प्रमाण, और संस्थागत विश्लेषण को संयोजित करते हुए यह तर्क रखता है कि 'सरपंच-पति' का लोकप्रिय मुहावरा एक वास्तविक समस्या का नामकरण तो करता है, किन्तु उसकी संस्थागत जड़ों को साथ-साथ ओझल भी कर देता है।

मुख्य शब्द: वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व; सारगर्भित प्रतिनिधित्व; स्त्री-आरक्षण; पंचायती राज; सरपंच-पति; राजस्थान; अंतःक्षेत्रीयता

1. प्रस्तावना

एक संख्या से आरम्भ करें। पंचायती राज मंत्रालय के सार्वजनिक आँकड़ों के अनुसार आज भारत की पंचायती राज संस्थाओं में लगभग छियालीस प्रतिशत निर्वाचित प्रतिनिधि स्त्रियाँ हैं—चौदह लाख से अधिक स्त्रियाँ, एक ऐसी विशाल संख्या जो भारत को इस आयाम में विश्व के अग्रणी देशों में खड़ा कर देती है। यह उपलब्धि आकस्मिक नहीं। यह तिहत्तरवें संविधान संशोधन और उसके पश्चात् अनेक राज्यों द्वारा आरक्षण को एक-तिहाई से बढ़ाकर पचास प्रतिशत कर देने की सुविचारित नीति का प्रतिफल है।

किन्तु यहीं एक अटपटा अन्तर्विरोध उभरता है। उसी सार्वजनिक विमर्श में, जो इस संख्यात्मक उपलब्धि पर गर्व करता है, एक आलोचना भी निरन्तर सुनाई देती है—'सरपंच-पति' की आलोचना। यह उस परिघटना का नाम है जिसमें कोई स्त्री औपचारिक रूप से सरपंच निर्वाचित तो होती है, किन्तु निर्णय की वास्तविक डोर उसके पति अथवा

किसी अन्य पुरुष-सम्बन्धी के हाथ में रहती है। प्रश्न सरल प्रतीत होता है, पर वह सरल नहीं है। उसके भीतर प्रतिनिधित्व की प्रकृति से जुड़ा एक गहन सैद्धान्तिक प्रश्न छिपा है।

यह आलेख उस प्रश्न को एक आधारभूत विश्लेषणात्मक कोटि के सहारे खोलता है—वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व और सारगर्भित प्रतिनिधित्व के बीच का भेद। वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व इस बात से सम्बन्धित है कि निर्वाचित निकाय में कौन शारीरिक रूप से उपस्थित है; सारगर्भित प्रतिनिधित्व इस बात से कि वह उपस्थित व्यक्ति वस्तुतः किसके हितों के लिए कार्य करता है। 'सरपंच-पति' की परिघटना, अपने मर्म में, ठीक इन्हीं दोनों के बीच के असफल संक्रमण का नाम है—उपस्थिति का सार में रूपान्तरित न हो पाना।

राजस्थान इस प्रश्न के अध्ययन के लिए एक निर्णायक प्रकरण (critical case) है, और तीन कारणों से। पहला, यहाँ की सामाजिक संरचना गहन पितृसत्तात्मक है, जिसके कारण उपस्थिति-से-सार का संक्रमण यहाँ सर्वाधिक कठिन और इसीलिए सर्वाधिक परीक्षणीय है। दूसरा, राजस्थान उन बीस राज्यों में सम्मिलित है जिन्होंने अपने पंचायती राज अधिनियम में स्त्रियों के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया है—अर्थात् यहाँ वर्णनात्मक उपस्थिति किसी न्यूनतम देहली पर नहीं, अपितु आधे पदों पर सुनिश्चित है। और तीसरा, स्थानीय निकायों में स्त्री-आरक्षण को यहाँ तीन दशक हो चुके हैं, जिससे एक दीर्घकालिक जीवित अनुभव विश्लेषण के लिए उपलब्ध है।

कि यह प्रश्न केवल अकादमिक नहीं, इसका प्रमाण समकालीन नीति स्वयं देती है। जुलाई 2023 में, मुण्डोना ग्रामीण विकास फाउण्डेशन बनाम भारत संघ प्रकरण में, उच्चतम न्यायालय ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि पुरुष प्रायः निर्वाचित स्त्रियों के पीछे वास्तविक शक्ति का संचालन करते हैं, और सरकार से इस समस्या के परीक्षण का आग्रह किया। इसी निर्देश के अनुपालन में पंचायती राज मंत्रालय ने अक्टूबर 2023 में 'स्त्री प्रधानों सम्बन्धी एक परामर्शदात्री समिति' का गठन किया, जिसने प्रॉक्सी-भागीदारी पर अंकुश हेतु अनेक संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं। प्रश्न, इस प्रकार, नीति के ठीक केन्द्र में है।

इस आलेख का प्रतिपादन एक संतुलित किन्तु स्पष्ट तर्क है। वर्णनात्मक उपस्थिति सारगर्भित प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक है, किन्तु पर्याप्त नहीं। और इन दोनों के बीच जो अन्तराल रह जाता है, वह किसी व्यक्ति-विशेष स्त्री की अक्षमता अथवा दुर्बलता का परिणाम नहीं—वह संरचनात्मक रूप से उत्पादित है। आगे के अनुभाग इस तर्क को क्रमशः खोलते हैं: पहले सैद्धान्तिक मानदण्ड, फिर परिमाणात्मक प्रमाण, फिर मापन की समस्या, तत्पश्चात् अन्तराल की संस्थागत शारीरिकी, और अन्ततः 'सरपंच-पति' के मुहावरे का पुनर्निर्धारण—यह दर्शाते हुए कि वह एक यथार्थ समस्या का नाम तो है, किन्तु उसकी जड़ों को ओझल भी कर देता है।

2. प्रतिनिधित्व का प्रश्न: पिटकिन से उपस्थिति की राजनीति तक

किसी भी विश्लेषण को आगे बढ़ने से पूर्व अपने औज़ार स्पष्ट करने होते हैं। और प्रतिनिधित्व का सबसे तीक्ष्ण औज़ार आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में हन्ना पिटकिन (Pitkin 1967) की कृति *The Concept of Representation* में गढ़ा गया। पिटकिन का स्थायी योगदान यह था कि उन्होंने 'प्रतिनिधित्व' नामक एक प्रतीयमान सरल शब्द को कई भिन्न अर्थों में विघटित कर दिखाया।

एक ओर 'औपचारिक' प्रतिनिधित्व है, जो प्राधिकार और उत्तरदायित्व की प्रक्रियाओं—अर्थात् निर्वाचन और उसके प्रति जवाबदेही—पर केन्द्रित है। दूसरी ओर 'वर्णनात्मक' प्रतिनिधित्व है, जिसमें प्रतिनिधि अपने समूह का प्रतिनिधित्व इसलिए करता है क्योंकि वह उसके सदृश है—उसी लिंग, जाति या वर्ग का। तीसरा 'प्रतीकात्मक' प्रतिनिधित्व है, जो प्रतिनिधि के प्रति समूह की भावनात्मक स्वीकृति से जुड़ा है। और चौथा, जिसे पिटकिन ने सर्वाधिक मूल्यवान माना, वह 'सारगर्भित' प्रतिनिधित्व है—अर्थात् 'किसी के लिए कार्य करना', प्रतिनिधि का अपने समूह के हितों के सक्रिय अभिकर्ता के रूप में आचरण।

इन भेदों में वर्णनात्मक और सारगर्भित प्रतिनिधित्व का अन्तर इस समूचे क्षेत्र की केन्द्रीय विश्लेषणात्मक कोटि है, और प्रस्तुत प्रश्न के लिए तो यह निर्णायक है। कारण स्पष्ट है। आरक्षण एक संस्थागत उपकरण के रूप में सीधे-सीधे केवल वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व की प्रत्याभूति देता है। वह यह सुनिश्चित कर सकता है कि निर्वाचित निकाय में स्त्रियों की एक निश्चित संख्या उपस्थित रहे। किन्तु क्या वह उपस्थिति सार में, अर्थात् अभिकरण और शक्ति में, रूपान्तरित होती है—यही वह विवाद्य प्रश्न है जिसके इर्द-गिर्द समस्त परवर्ती विमर्श घूमता है।

पिटकिन के पश्चात् इस बहस को एक नया धरातल एन फिलिप्स (Phillips 1995) की कृति *The Politics of Presence* ने दिया। फिलिप्स का तर्क था कि उदार लोकतन्त्र लम्बे समय तक 'विचारों की राजनीति' पर केन्द्रित रहा—यह मानते हुए कि महत्त्व इस बात का है कि कौन-से विचार सभा में प्रतिनिधित्व पाते हैं, न कि इस बात का कि वहाँ शारीरिक रूप से कौन उपस्थित है। फिलिप्स ने इसके विरुद्ध 'उपस्थिति की राजनीति' का पक्ष रखा। उनका कहना था कि कुछ समूहों के लिए स्वयं उनकी उपस्थिति का एक स्वतन्त्र मूल्य है, क्योंकि जब किसी समूह के सरोकार पहले से सुपरिभाषित नहीं होते, तब उनकी वास्तविक उपस्थिति को किसी सहानुभूतिशील बाहरी प्रतिनिधि से प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता।

किन्तु क्या वर्णनात्मक उपस्थिति वस्तुतः सार में बदलती है, और यदि हाँ तो किन परिस्थितियों में—इस प्रश्न का सर्वाधिक सूक्ष्म उत्तर जेन मैन्सब्रिज (Mansbridge 1999) के विख्यात निबन्ध में मिलता है, जिसका शीर्षक

ही एक प्रश्न है: क्या अश्वेतों को अश्वेतों का और स्त्रियों को स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए? उनका उत्तर एक 'सशर्त हाँ' था। मैन्सब्रिज ने दर्शाया कि वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व सर्वत्र समान रूप से लाभकर नहीं; उसका मूल्य कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में सर्वाधिक होता है—जैसे जब किसी समूह के हित अभी 'अस्फटित' हों, अथवा जब समूह और प्रभुत्वशाली वर्ग के बीच अविश्वास का इतिहास हो, अथवा जब शासन की वैधता ही प्रश्नांकित हो।

यह अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत प्रश्न के लिए अमूल्य है, क्योंकि यह 'सरपंच-पति' की समस्या को एक नई रोशनी में रखती है: वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व का प्रतिफल स्वतःसिद्ध नहीं, अपितु परिस्थिति-सापेक्ष है। आइरिस मैरियन यंग (Young 2000) ने इसमें एक और आयाम जोड़ा—यह तर्क रखते हुए कि प्रतिनिधित्व केवल हितों या मतों का नहीं, अपितु 'सामाजिक परिप्रेक्ष्यों' का भी होता है, अर्थात् समाज में किसी विशिष्ट स्थिति से देखने का वह कोण जो उस स्थिति के बाहर के व्यक्ति के पास नहीं होता। यही चार स्वर—पिटकिन का भेद, फिलिप्स का उपस्थिति-पक्ष, मैन्सब्रिज की सशर्तता, और यंग का परिप्रेक्ष्य—वह सैद्धान्तिक मानदण्ड रचते हैं जिसके सहारे आगे का प्रमाण तौला जाएगा।

पिटकिन की एक और कोटि—'प्रतीकात्मक' प्रतिनिधित्व—राजस्थान जैसे गहन पितृसत्तात्मक समाज में विशेष भार वहन करती है। किसी स्त्री का सरपंच की कुर्सी पर विराजमान होना, तात्कालिक नीतिगत परिणामों से परे, यह पुनर्निर्धारित करता है कि नेता के रूप में किसकी कल्पना सम्भव है—और इस प्रकार आगामी पीढ़ी के लिए राजनीतिक अभिकरण का क्षितिज विस्तृत करता है। किन्तु यहीं एक सावधानी भी है। प्रतीकात्मक उपस्थिति स्वयं एक बहाना भी बन सकती है: कुर्सी 'भर' दी जाती है, और इसी आभास के पीछे वास्तविक शक्ति अन्यत्र प्रवाहित होती रहती है। प्रतीक और सार में सामंजस्य अनिवार्य नहीं; वे विपरीत दिशाओं में भी जा सकते हैं।

इसी से जुड़ा एक प्राचीन विवाद भी प्रासंगिक है: क्या प्रतिनिधि-सभा को समाज का 'लघुरूप' अथवा दर्पण होना चाहिए, जो उसकी संरचना का यथावत् प्रतिबिम्ब हो? आरक्षण, स्थानीय स्तर पर, इसी दर्पण-सिद्धान्त को ही मूर्त करता है। किन्तु पिटकिन की 'औपचारिक' कोटि—प्राधिकार और उत्तरदायित्व—एक तीखा प्रश्न उठाती है: प्रतिनिधि अन्ततः किसके प्रति उत्तरदायी है? जहाँ औपचारिक रूप से निर्वाचित सरपंच मतदाताओं के प्रति जवाबदेह होती है किन्तु वास्तविक शक्ति किसी अनिर्वाचित पुरुष-सम्बन्धी के हाथ में रहती है, वहाँ उत्तरदायित्व की समूची शृंखला ही विकृत हो जाती है—पदधारी जवाबदेह तो है किन्तु शक्ति-सम्पन्न नहीं, और जो शक्ति-सम्पन्न है वह जवाबदेह नहीं। 'सरपंच-पति' की परिघटना, इस दृष्टि से, केवल सार-प्रतिनिधित्व की ही नहीं, अपितु लोकतान्त्रिक उत्तरदायित्व की

भी विफलता है—और यही उसे एक सामान्य लैंगिक असुविधा से कहीं अधिक गम्भीर संस्थागत समस्या बना देता है।

3. परिमाणात्मक अभिलेख वस्तुतः क्या दर्शाता है

सैद्धान्तिक प्रश्न जितने भी सूक्ष्म क्यों न हों, अन्ततः उनका उत्तर प्रमाण से ही मिलता है। और यहाँ सामाजिक विज्ञान की एक चिरन्तन कठिनाई सामने आती है: यदि हम पाते हैं कि स्त्री-नेतृत्व वाली पंचायतें भिन्न आचरण करती हैं, तो क्या इसका कारण नेता का स्त्री होना है, अथवा वे गाँव जो स्त्रियों को चुनते हैं स्वयं पहले से भिन्न थे? यह 'चयन की समस्या' किसी भी सरल तुलना को सन्दिग्ध बना देती है।

इस कठिनाई का एक प्रतिभाशाली समाधान रघबेन्द्र चट्टोपाध्याय एवं एस्थर डुफ़्लो (Chattopadhyay and Duflo 2004) के विख्यात लेख में निहित है। भारत में पंचायतों के लिए आरक्षित सीटें एक यादृच्छिक नियम के अनुसार आवण्टित होती हैं—कौन-सी ग्राम पंचायत किसी चक्र में स्त्री के लिए आरक्षित होगी, यह एक पूर्व-निर्धारित संख्यात्मक क्रम से तय होता है, न कि स्थानीय इच्छा से। इन विद्वानों ने इसी यादृच्छिकता को एक 'प्राकृतिक प्रयोग' के रूप में प्रयुक्त किया। चूँकि आरक्षण संयोग से बँटता है, इसलिए आरक्षित और अनारक्षित पंचायतें औसतन हर अन्य दृष्टि से समान होती हैं, और उनके बीच का कोई भी अन्तर आरक्षण का ही कार्य-कारण प्रभाव माना जा सकता है। उनका निष्कर्ष था कि महिला-प्रधान वाली पंचायतें उन सार्वजनिक वस्तुओं—विशेषतः पेयजल—में अपेक्षाकृत अधिक निवेश करती हैं जो स्थानीय स्त्रियों की व्यक्त प्राथमिकताओं से सीधे जुड़ी होती हैं। उल्लेखनीय है कि इस अध्ययन का प्रतिदर्श पश्चिम बंगाल के साथ-साथ राजस्थान (उदयपुर) से भी लिया गया था।

यदि चट्टोपाध्याय एवं डुफ़्लो ने नीतिगत निवेश में अन्तर दिखाया, तो लोरी बीमन एवं सहयोगियों (Beaman et al. 2012) ने एक अधिक सूक्ष्म, अभिवृत्ति-मूलक प्रभाव उद्घाटित किया। पश्चिम बंगाल पर आधारित अपने अध्ययन में उन्होंने पाया कि स्थानीय स्तर पर स्त्री-नेतृत्व का सतत सम्पर्क किशोरियों की आकांक्षाओं और शैक्षिक उपलब्धियों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है; दो निर्वाचन-चक्रों तक स्त्री-नेता के संपर्क में रहने के पश्चात् किशोरियों की शैक्षिक उपलब्धि का लैंगिक अन्तराल लगभग समाप्त हो गया। इसे उन्होंने 'अनुकरणीय आदर्श' (role-model) प्रभाव कहा—अर्थात् आरक्षण का एक प्रतिफल यह भी है कि वह बदल देता है कि एक स्त्री-नेता को लोग किस दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु यह प्रभाव सर्वत्र एकसमान नहीं। इर्मा क्लॉट्स-फ़िगेरास (Clots-Figueras 2012) ने भारतीय राज्यों के आँकड़ों के विश्लेषण से दर्शाया कि स्त्री-प्रतिनिधित्व का प्रभाव क्षेत्र-सापेक्ष और पहचान-सापेक्ष है—नगरीय और ग्रामीण परिवेश में, तथा भिन्न जातीय पृष्ठभूमि वाली निर्वाचित स्त्रियों के बीच, परिणाम भिन्न होते हैं। यह विषमता एक केन्द्रीय चेतावनी है: 'औसत प्रभाव' की भाषा उस आन्तरिक विविधता को ढक देती है जो वस्तुतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एक आवश्यक संतुलन यहाँ जोड़ना चाहिए, ताकि चित्र एकपक्षीय न हो जाए। रत्ना बान एवं विजयेन्द्र राव (Ban and Rao 2008) के दक्षिण भारत पर आधारित अध्ययन 'प्रतीकवाद अथवा अभिकरण?' ने यह सुझाया कि अनेक स्थलों पर महिला-प्रतिनिधि न तो निरी कठपुतली थीं और न उनका निष्पादन पुरुष-प्रतिनिधियों से हीन; निर्णायक चर प्रायः स्थानीय सन्दर्भ सिद्ध होता है। अर्थात् 'सरपंच-पति' कोई सार्वभौम नियति नहीं, अपितु एक सन्दर्भ-सापेक्ष सम्भावना है। यह विभेदन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें न तो अन्धे आशावाद की ओर जाने देता है और न पूर्ण निराशा की ओर—और यही इस आलेख की समग्र दृष्टि का बीज भी है।

और क्या आरक्षण का प्रभाव उसके हटा लिए जाने के पश्चात् भी टिकता है? इस प्रश्न का एक उत्साहजनक उत्तर रिखिल भावनानी (Bhavnani 2009) के मुम्बई नगरपालिका वार्डों पर आधारित 'प्राकृतिक प्रयोग' में मिला: एक बार आरक्षण के कारण किसी वार्ड से स्त्री के निर्वाचित हो जाने पर, उस वार्ड के अनारक्षित हो जाने के बाद भी स्त्री-अभ्यर्थियों की विजय-सम्भावना ऊँची बनी रहती है। संक्षेप में, सैद्धान्तिक मानदण्ड के सम्मुख तौलने पर परिमाणात्मक अभिलेख निर्विवाद रूप से यह दर्शाता है कि वर्णनात्मक उपस्थिति निष्क्रिय नहीं है; वह कुछ परिणामों को निश्चय ही बदलती है। यहीं से, तथापि, असली कठिनाई आरम्भ होती है।

4. सारगर्भित प्रतिनिधित्व की समस्या और उसका मापन

पूर्ववर्ती अनुभाग का प्रमाण शक्तिशाली है, किन्तु उसकी अपनी एक मूलभूत सीमा है। वह मुख्यतः 'नीतिगत परिणामों' को मापता है—किन वस्तुओं में निवेश हुआ—न कि इस प्रश्न को कि निर्णय वस्तुतः किसने लिया। एक महिला-प्रधान वाली पंचायत भिन्न परिणाम दे सकती है, और फिर भी वह निर्णय परदे के पीछे किसी पुरुष का हो सकता है। औसत कार्य-कारण प्रभाव उस विषमता को ढक लेता है जो उसके भीतर छिपी रहती है: सम्भव है कुछ महिला-प्रधान वास्तविक अभिकर्ता रही हों और कुछ केवल नाममात्र की, और फिर भी औसत धनात्मक रह सकता है।

किन्तु इससे पूर्व कि हम सार को मापें, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'सार' का अर्थ क्या है। नैला कबीर (Kabeer 1999) का प्रभावशाली ढाँचा सशक्तिकरण को तीन परस्पर-सम्बद्ध आयामों में विभाजित करता है—'संसाधन' (पूर्व-शर्तें), 'अभिकरण' (निर्णय और कर्म की प्रक्रिया), और 'उपलब्धियाँ' (परिणाम)। इस ढाँचे में आरक्षित सीट केवल एक 'संसाधन' है; वह स्वयं अभिकरण अथवा उपलब्धि की प्रत्याभूति नहीं देती। अमर्त्य सेन (Sen 1999) का 'अभिकरण-स्वातन्त्र्य' इसी अन्तर्दृष्टि को पुष्ट करता है—व्यक्ति का अपने मूल्यों के अनुसार कार्य करने और परिवर्तन लाने का सामर्थ्य, जो केवल 'कल्याण' से भिन्न और उतना ही मूल्यवान है। मार्था नस्बाम (Nussbaum 2000) इसे और सुनिश्चित करती हैं, राजनीतिक चयनों में प्रभावी भागीदारी को एक केन्द्रीय और अहस्तान्तरणीय मानव-सामर्थ्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए। इन तीनों के लिए, एक महिला-सरपंच का पंचायत के निर्णयन में वास्तविक भाग लेना उसके अभिकरण-स्वातन्त्र्य का ही मूर्त रूप है। और 'सरपंच-पति' की अवस्था, इसी शब्दावली में, कल्याण-मूलक परिणाम भले दे दे, अभिकरण के स्तर पर एक विफलता है—क्योंकि कर्ता स्वयं स्त्री नहीं।

इस 'सार' की दिशा क्या हो, इसे स्पष्ट करने में दो और अवधारणाएँ सहायक हैं। मैक्सीन मॉलिन्यू (Molyneux 1985) का 'व्यावहारिक' और 'कार्यनीतिक' लिंग-हितों के बीच का भेद यह पूछने को बाध्य करता है कि महिला-नेतृत्व केवल तात्कालिक आवश्यकताओं—पेयजल, ईंधन, भरण-पोषण—की पूर्ति करता है, अथवा लिंग-पदानुक्रम को ही चुनौती देता है। यह भेद कठोर विभाजन नहीं; प्रायः स्त्रियाँ व्यावहारिक मुद्दों की भाषा में ही कार्यनीतिक लक्ष्यों की ओर बढ़ती हैं। और नैन्सी फ़्रेज़र (Fraser 1995) का 'पुनर्वितरण' तथा 'मान्यता' के बीच का भेद एक तीखी चेतावनी देता है: आरक्षण मूलतः एक मान्यता-मूलक उपचार है, जो स्त्रियों को एक प्रतिष्ठा-समूह के रूप में स्वीकृति देता है; किन्तु यदि वह आर्थिक अधीनता को यथावत् छोड़ दे, तो वह एक प्रतीकात्मक समावेशन उत्पन्न कर सकता है जिसके पीछे की रिक्ति को 'सरपंच-पति' भर देता है।

एक अन्तिम अवधारणात्मक मोड़ इस अनुभाग के लिए निर्णायक है। दीर्घकाल तक यह माना जाता रहा कि सार-प्रतिनिधित्व के लिए एक 'समीक्षात्मक संख्या' (critical mass) आवश्यक है—ड्रूड डाह्लरुप (Dahlerup 1988) के स्कैंडिनेवियाई अध्ययनों से उपजी यह धारणा, जिसके अनुसार जब तक किसी अल्पसंख्यक समूह की उपस्थिति एक निश्चित देहली—प्रायः लगभग एक-तिहाई—तक नहीं पहुँचती, तब तक वह सभा की संस्कृति को नहीं बदल पाता। यह 'एक-तिहाई' की धारणा भारत में पंचायतों के प्रारम्भिक आरक्षण में भी प्रतिध्वनित हुई। किन्तु सारा चाइल्ड्स एवं मोना लीना क्रूक (Childs and Krook 2008) ने इस धारणा

को पुनर्निरूपित किया, बल को 'कितनी स्त्रियाँ हैं' से हटाकर 'कुछ स्त्रियाँ क्या करती हैं' पर केन्द्रित करते हुए—अर्थात् 'समीक्षात्मक कर्ता' (critical actors) पर। यह पुनर्निरूपण भारत के लिए अत्यन्त प्रासंगिक है: अनेक राज्यों ने आरक्षण को पचास प्रतिशत तक बढ़ा दिया है, किन्तु संख्या की यह वृद्धि स्वयं सार की प्रत्याभूति नहीं देती। वास्तविक प्रश्न यह बनता है कि क्या ऐसी संरचनात्मक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनमें कुछ स्त्रियाँ कर्ता के रूप में उभर सकें।

यह हमें एक गहन पद्धतिगत प्रश्न तक ले आता है: सार-प्रतिनिधित्व को, अर्थात् इस तथ्य को कि निर्णय वस्तुतः किसने लिया, मापा कैसे जाए? यह प्रश्न सरल नहीं, क्योंकि यहाँ माप का विषय स्वयं को छिपाता है। यदि किसी महिला-सरपंच से पूछा जाए कि क्या वह निर्णय लेती है, तो सामाजिक वांछनीयता का दबाव प्रायः 'हाँ' कहलवाता है; और यदि ग्रामीणों से पूछा जाए, तो औपचारिक पद के कारण वे भी पदधारी का ही नाम ले सकते हैं, भले ही वास्तविक शक्ति अन्यत्र हो। आत्म-प्रतिवेदित भागीदारी, इस प्रकार, एक अविश्वसनीय मापक है।

इस कठिनाई के सर्वाधिक परिष्कृत उत्तर ने हाल के अनुसन्धान को दो प्रकार के मापकों के संयोजन की ओर मोड़ा है—'प्रतिष्ठा-मूलक' (reputational) और 'व्यवहार-मूलक' (behavioural)। प्रतिष्ठा-मूलक मापक यह पूछता है कि समुदाय और अधिकारीगण किसे प्रभावशाली मानते हैं; व्यवहार-मूलक मापक वास्तविक बैठकों में निर्णय-प्रक्रिया का प्रत्यक्ष प्रेक्षण करता है—कौन बोलता है, प्रस्ताव कौन रखता है, हस्ताक्षर किसके होते हैं। पद्धतिगत सतर्कता का एक उल्लेखनीय उदाहरण साइमन चौचार्ड (Chauchard 2017) के उस प्रयोग में मिलता है जिसमें उन्होंने संवेदनशील अभिवृत्तियों पर सर्वेक्षण के लिए स्व-संचालित प्रश्नावली का प्रयोग किया, ताकि उत्तरदाता सामाजिक दबाव से मुक्त होकर सच्चा उत्तर दे सके।

इन सब का चरमबिन्दु, और प्रस्तुत आलेख की दृष्टि से सर्वाधिक प्रासंगिक नवीनतम प्रमाण, एलिसा हाइंज़े, रेचल ब्रुले एवं साइमन चौचार्ड (Heinze, Brulé, and Chauchard 2025) के लेख 'Who Actually Governs?' में है, जो *The Journal of Politics* में प्रकाशित हुआ। भारत की 320 ग्राम पंचायतों के एक मौलिक सूक्ष्म-स्तरीय सर्वेक्षण पर आधारित इस अध्ययन ने प्रतिष्ठा-मूलक और व्यवहार-मूलक—दोनों मापकों का प्रयोग करते हुए यह दर्शाया कि आरक्षण के माध्यम से निर्वाचित स्त्रियाँ पंचायत के निर्णयन में समान रूप से भागीदार नहीं होतीं। और भी महत्त्वपूर्ण यह कि उन्होंने इस असमानता के दो भिन्न स्रोत चिह्नित किए—'विभेद' (निर्वाचित होने के पश्चात् स्त्री के साथ किया जाने वाला असमान व्यवहार) तथा 'चयन' (यह कि प्रायः ऐसी ही स्त्रियों को आगे किया जाता है जिनके स्वतन्त्र रूप से सशक्त होने की सम्भावना कम हो)। यह एक

हालिया और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है, जिसे यहाँ उसी रूप में—उस अध्ययन के प्रमाण के रूप में, न कि किसी अन्तिम सर्वसम्मति के रूप में—प्रस्तुत किया जा रहा है।

5. अन्तराल की संस्थागत शारीरिकी

यदि उपस्थिति और सार के बीच का अन्तराल वास्तविक है, तो अगला प्रश्न यह है कि उसे क्या उत्पन्न करता है। यहीं इस आलेख का केन्द्रीय प्रतिपादन अपना आधार पाता है: यह अन्तराल किसी व्यक्ति-विशेष स्त्री का दोष नहीं, अपितु संस्थागत अभिकल्प का एक संरचनात्मक परिणाम है। इस संरचना को समझने के लिए उस ढाँचे को देखना होगा जिसके भीतर समूचा प्रश्न आकार लेता है।

इस ढाँचे की आधारशिला 1992 का तिहत्तरवाँ संविधान संशोधन है, जो 1993 में प्रभावी हुआ। इसने पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा दिया, और संविधान के अनुच्छेद 243D के माध्यम से यह सुनिश्चित किया कि प्रत्यक्ष निर्वाचन से भरी जाने वाली कुल सीटों में से कम-से-कम एक-तिहाई स्त्रियों के लिए आरक्षित रहें। चूँकि 'पंचायत' राज्य-सूची का विषय है, इसलिए विस्तृत नियम राज्य-विधानमण्डल बनाते हैं—और इसी विधायी स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए राजस्थान सहित बीस राज्यों ने आगे चलकर स्त्री-आरक्षण को एक-तिहाई से बढ़ाकर पचास प्रतिशत कर दिया।

किन्तु आरक्षण की एक संरचनात्मक विशेषता ऐसी है जो प्रायः अनदेखी रह जाती है, और जो 'सरपंच-पति' की परिघटना से सीधे जुड़ती है: आरक्षित सीटों का 'आवर्तन' (rotation)। राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा संचालित इस प्रक्रिया में कोई सीट एक चक्र में स्त्री के लिए आरक्षित होती है और अगले में अनारक्षित। यह आवर्तन एक ओर तो आरक्षण के लाभ को व्यापक रूप से वितरित करता है, किन्तु दूसरी ओर यह निरन्तरता और पुनर्निर्वाचन की सम्भावना को भंग कर देता है। परिणाम यह कि एक निर्वाचित स्त्री के लिए दीर्घकालिक राजनीतिक पूँजी अर्जित करना कठिन हो जाता है—और यही अनिश्चितता प्रायः किसी स्थायी पुरुष-सम्बन्धी को परदे के पीछे शक्ति-केन्द्र बने रहने का अवसर देती है।

यह संस्थागत यात्रा आकस्मिक नहीं थी। ग्राम को स्वशासन की मूल इकाई मानने की कल्पना भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पुरानी है, और स्वतन्त्रता के पश्चात् बलवन्तराय मेहता समिति (1957) ने त्रिस्तरीय पंचायती राज की संस्तुति की। स्त्रियों की राजनीतिक भागीदारी का प्रश्न राष्ट्रीय विमर्श के केन्द्र में 1974 के 'टुवर्ड्स इक्वलिटी' प्रतिवेदन से आया, जिसने स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक सूचकांकों पर स्त्रियों की गिरती स्थिति को प्रलेखित किया और भागीदारी के प्रश्न को राष्ट्रीय एजेण्डे पर ला खड़ा किया। इस अर्थ में तिहत्तरवाँ संशोधन एक लम्बी वैचारिक तथा

आन्दोलनात्मक प्रक्रिया की परिणति था, न कि कोई आकस्मिक विधायी घटना। और एक विडम्बना यहाँ ध्यातव्य है: जहाँ स्थानीय निकायों में स्त्री-आरक्षण को तीन दशक हो चुके हैं, वहीं संसद और विधानसभाओं के स्तर पर ऐसा आरक्षण दीर्घकाल तक अटका रहा, और 2023 के 'नारी शक्ति वन्दन अधिनियम' के रूप में ही मूर्त हुआ—यद्यपि उसका क्रियान्वयन परिसीमन की प्रतीक्षा में है। इस तुलना से एक निहितार्थ निकलता है: स्थानीय स्तर ही वह 'प्रयोगशाला' है जहाँ स्त्री-आरक्षण का दीर्घकालिक जीवित अनुभव उपलब्ध है, और प्रस्तुत आलेख इसी अनुभव की पड़ताल करता है।

कि यह उपस्थिति मुख्यतः आरक्षण-जनित है, इसका प्रत्यक्ष संकेत क्षेत्रीय प्रमाण देते हैं। गोखले अर्थशास्त्र एवं राजनीति संस्थान के एक अध्ययन में सर्वेक्षित स्त्रियों में से लगभग छियासी प्रतिशत ने बताया कि उन्होंने चुनाव मुख्यतः इसलिए लड़ा क्योंकि सीट स्त्रियों के लिए आरक्षित थी। [राजस्थान-विशिष्ट राज्य-स्तरीय आँकड़े—यथा निर्वाचित महिला सरपंचों का प्रतिशत—यहाँ अपेक्षित: पुष्टि अपेक्षित, पंचायती राज विभाग, राजस्थान, उद्धरण-तिथि सहित।] यह तथ्य आरक्षण की अनिवार्यता और उसकी सीमा—दोनों को एक साथ रेखांकित करता है: आरक्षण के बिना यह उपस्थिति सम्भवतः होती ही नहीं, और फिर भी उपस्थिति स्वयं सार नहीं।

यह कि अभिकल्प परिणाम को आकार देता है, इसका तुलनात्मक प्रमाण मोना लीना क्रूक (Krook 2009) के कार्य में मिलता है। उन्होंने आरक्षण के भिन्न प्रकारों में भेद किया—'आरक्षित सीटें', जो भारत का प्रतिमान है; 'अभ्यर्थी-कोटा', जो दलों को न्यूनतम अनुपात में स्त्री-अभ्यर्थी खड़ा करने को बाध्य करता है; और 'स्वैच्छिक दलीय कोटा'। उनका निष्कर्ष था कि अभिकल्प परिणाम को आकार देता है। आरक्षित सीटें उपस्थिति की तो सर्वाधिक सुनिश्चित प्रत्याभूति देती हैं, किन्तु वे कतिपय ऐसी गतिकियों को भी जन्म दे सकती हैं—प्रतिनिधि-स्थान (proxy) और प्रतिक्रिया (backlash)—जो अभ्यर्थी-कोटा में उतनी प्रबल नहीं होतीं। भारत की पंचायत-व्यवस्था ठीक इसी आरक्षित-सीट प्रतिमान पर आधारित है, और इसीलिए वहाँ 'सरपंच-पति' जैसी परिघटनाएँ संरचनात्मक रूप से अधिक सम्भाव्य हैं।

इस विश्लेषण को इसके सर्वाधिक परिपक्व रूप में रेचल ब्रुले (Brulé 2020) की कृति *Women, Power, and Property* प्रस्तुत करती है, जिसे तुलनात्मक राजनीति की सर्वोत्तम पुस्तक के लिए अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन का 2021 का ल्यूबर्ट पुरस्कार प्राप्त हुआ। ब्रुले का 'द्वारपाल' (gatekeeper) सिद्धान्त दर्शाता है कि निर्वाचित स्त्री-प्रतिनिधि अन्य स्त्रियों के लिए सम्पत्ति जैसे मूलभूत आर्थिक अधिकारों तक पहुँच के द्वार खोलती हैं। किन्तु उनके विश्लेषण का मर्म वह 'विरोधाभास' है जिसकी ओर शीर्षक संकेत करता है:

आरक्षण अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अनिवार्य तो है, किन्तु वही उन स्त्रियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया को जन्म देता है जो सौदेबाज़ी की सामर्थ्य अर्जित किए बिना अधिकार पा लेती हैं। यह अन्तर्दृष्टि आर्थिक और राजनीतिक सशक्तिकरण को एक ही विश्लेषणात्मक सूत्र में बाँध देती है, और यह स्पष्ट करती है कि अन्तराल संरचना में निहित है, व्यक्ति में नहीं।

6. 'सरपंच-पति' का पुनर्निर्धारण: अधिग्रहण बनाम संक्रमण

अब हम उस मुहावरे पर लौट सकते हैं जिससे यह आलेख आरम्भ हुआ था। 'सरपंच-पति' का अर्थ क्या है—इस पर विद्वानों में सहमति नहीं, और यह असहमति ही इस अनुभाग का विषय है। मोटे तौर पर दो दृष्टियाँ आमने-सामने खड़ी हैं।

पहली को 'अधिग्रहण' (capture) की दृष्टि कहा जा सकता है। इसके अनुसार 'सरपंच-पति' वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व की मूल विफलता का नाम है: स्त्री केवल एक हस्ताक्षर है, वास्तविक सत्ता पुरुष-सम्बन्धी अथवा प्रभुत्वशाली जाति के हाथ में है, और इस अर्थ में आरक्षण एक खोखला आवरण है। हाइंज़े, ब्रुले एवं चौचार्ड (Heinze, Brulé, and Chauchard 2025) का नवीनतम प्रमाण इसी दृष्टि को बल देता है, यह दर्शाते हुए कि निर्वाचित स्त्रियाँ निर्णयन में समान रूप से भागीदार नहीं होतीं।

किन्तु एक प्रतिपक्ष भी है, जिसे 'संक्रमणकालीन' (transitional) अथवा 'करते-करते सीखने' की दृष्टि कहा जा सकता है। यह 'सरपंच-पति' की अवस्था को अन्तिम नहीं, अपितु एक प्रशिक्षण-काल मानती है: सम्भव है स्त्री आरम्भ में कठपुतली के रूप में प्रवेश करे, किन्तु करते-करते सीखने की प्रक्रिया में वह क्रमशः वास्तविक शक्ति अर्जित कर सकती है। इस दृष्टि के समर्थन में भावनानी (Bhavnani 2009) का स्थायित्व-सम्बन्धी प्रमाण और बीमन आदि (Beaman et al. 2012) का अनुकरणीय-आदर्श प्रभाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो एक विकासात्मक प्रक्षेप-पथ की सम्भावना सुझाते हैं—प्रथम कार्यकाल की कठपुतली द्वितीय कार्यकाल की वास्तविक नेता बन सकती है।

इस विवाद में चौचार्ड (Chauchard 2017) की कृति *Why Representation Matters* एक और परत जोड़ती है। यद्यपि उसका मुख्य विषय जाति-आरक्षण है, और यद्यपि वह राजस्थान के जयपुर तथा बीकानेर ज़िलों के क्षेत्र-शोध पर आधारित है, उसका पद्धतिगत योगदान यहाँ प्रासंगिक है: आरक्षण के प्रभाव केवल नीतिगत परिणामों में नहीं, अपितु अन्तर-समूह अभिवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक धरातल पर भी पड़ते हैं। यह अन्तर्दृष्टि

संक्रमणकालीन दृष्टि को बल देती है—यदि आरक्षण धीरे-धीरे यह बदल सकता है कि लोग एक स्त्री-नेता को किस दृष्टि से देखते हैं, तो 'सरपंच-पति' की अवस्था में भी एक क्रमिक रूपान्तरण की गुंजाइश रह सकती है। किन्तु 'रह सकती है' और 'रहती ही है' के बीच का अन्तर केवल समय-श्रृंखला का प्रमाण ही पाट सकता है—और यहीं प्रस्तुत आलेख अपनी सीमा भी स्वीकार करता है तथा अपने उत्तरवर्ती की भूमि भी तैयार करता है।

इन दोनों दृष्टियों के बीच का निर्णय किसी सिद्धान्त से नहीं, अपितु प्रमाण से ही सम्भव है—और यह प्रमाण किसी एक क्षण का चित्र नहीं, अपितु समय के साथ प्रक्षेप-पथ का प्रमाण होना चाहिए। ठीक यहीं एक राजस्थान-केन्द्रित, अनुदैर्घ्य (longitudinal) अध्ययन की आवश्यकता उभरती है, जो एक दशक (2010 से 2020) के निर्वाचन-चक्रों का अनुसरण करते हुए इस प्रश्न को सम्बोधित कर सके कि 'सरपंच-पति' की अवस्था स्थायी है अथवा संक्रमणकालीन। यह आलेख उस अनुभवमूलक अध्ययन की वैचारिक भूमि तैयार करता है; उसका वास्तविक उत्तर एक पृथक्, क्षेत्र-आधारित अन्वेषण की प्रतीक्षा करता है।

एक आवश्यक संतुलन यहाँ अनिवार्य है, और यह इस अनुभाग का मर्म है। समस्त साहित्य 'पति' को एकमात्र खलनायक नहीं मानता। यदि हम पूरी समस्या को केवल एक पुरुष-सम्बन्धी के हस्तक्षेप तक सीमित कर दें, तो हम स्वयं उसी मुहावरे के जाल में फँस जाते हैं जिसकी आलोचना यह आलेख कर रहा है। गहन समस्या यह है कि अनेक संस्थागत संरचनाएँ किसी भी 'बाहरी' को—फिर वह स्त्री हो या निर्धन या निम्न जाति का—सत्ता से दूर रखती हैं। शासन के लिए आवश्यक 'प्रक्रियात्मक ज्ञान' का असमान वितरण ही प्रायः यह निर्धारित करता है कि वास्तविक शक्ति किसके पास रहेगी, और यह ज्ञान स्वाभाविक रूप से उन्हीं के पास संचित होता है जो पहले से विशेषाधिकार-सम्पन्न हैं। इसी प्रकार, थड डनिंग एवं जनहवी नीलेकणी (Dunning and Nilekani 2013) का अध्ययन यह जोड़ता है कि दलीय मध्यस्थता के कारण आरक्षण सदैव वितरणात्मक परिणामों को उस दिशा में नहीं मोड़ पाता जिसकी अपेक्षा की जाती है।

और यह भी स्मरणीय है कि स्थानीय आरक्षण के प्रभाव सीढ़ी के ऊपर की ओर भी प्रवाहित होते हैं। स्टीफ़न ओ'कॉनेल (O'Connell 2020) ने दर्शाया कि स्थानीय राजनीति में स्त्रियों का आरक्षण उच्चतर पदों—राज्य एवं राष्ट्रीय विधानमण्डलों—के लिए स्त्री-अभ्यर्थियों की आपूर्ति-श्रृंखला को पुष्ट करता है। इस अर्थ में 'सरपंच-पति' की परिघटना को केवल एक स्थिर विफलता के रूप में पढ़ना अपर्याप्त होगा; वह एक व्यापक, गतिशील प्रक्रिया का एक चरण भी हो सकती है, जिसका अन्तिम अर्थ अभी निर्धारित नहीं हुआ।

7. निष्कर्ष

तो हम कहाँ पहुँचे? वर्णनात्मक उपस्थिति एक वास्तविक उपलब्धि है—इसे कम करके आँकना उन तीन दशकों के संघर्ष का अपमान होगा जिन्होंने चौदह लाख से अधिक स्त्रियों को सत्ता के निकट लाया। किन्तु वह उपलब्धि अधूरी है। प्रमाण स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि उपस्थिति कुछ परिणामों को बदलती है, और यह भी उतने ही स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि वह स्वतः सार में रूपान्तरित नहीं होती।

इसलिए विश्लेषण का वास्तविक कार्य न तो अन्धा आशावाद है और न पूर्ण निराशावाद, अपितु उन परिस्थितियों का सूक्ष्म निर्धारण है जिनके अन्तर्गत उपस्थिति अभिकरण में बदलती है। आरक्षण की संख्या आवश्यक है, किन्तु अपर्याप्त। और इन दोनों के बीच की दूरी ही वह क्षेत्र है जहाँ नीति, प्रशिक्षण, संस्थागत अभिकल्प और सामाजिक परिवर्तन का वास्तविक कार्य निहित है।

यहीं 'सरपंच-पति' के मुहावरे की द्वैधता उजागर होती है, जो इस आलेख का केन्द्रीय प्रतिपादन है। एक ओर यह मुहावरा एक यथार्थ समस्या का नामकरण करता है—वर्णनात्मक उपस्थिति का सारगर्भित अभिकरण में रूपान्तरित न हो पाना। किन्तु दूसरी ओर, उसी क्षण, वह इस विफलता को एक व्यक्तिगत, पारिवारिक नाटक में समेट देता है, और इस प्रकार उन संस्थागत जड़ों को ओझल कर देता है जो वास्तव में इसे उत्पन्न करती हैं—सीटों का आवर्तन, दलीय द्वारपालन, और जाति-वर्ग की प्रतिच्छेदी श्रेणीबद्धता। समस्या को केवल 'पति' में देखना समाधान को भी केवल 'पति को हटाने' में सीमित कर देता है, जबकि वास्तविक उपचार संरचनात्मक है।

और कि यह प्रश्न समकालीन नीति के ठीक केन्द्र में है, इसका प्रमाण वह परामर्शदात्री समिति है जिसे पंचायती राज मंत्रालय ने 2023 में, उच्चतम न्यायालय के निर्देश के अनुपालन में, इसी प्रथा के परीक्षण हेतु गठित किया। उस समिति की संस्तुतियाँ—कठोर दण्ड, अनुश्रवण-तन्त्र, प्रशिक्षण, और 'प्रधान-पति-विरोधी' अग्रदूतों का प्रोत्साहन—यह संकेत देती हैं कि राज्य स्वयं इस अन्तराल को संरचनात्मक मानने की ओर बढ़ रहा है। यदि यह आलेख कोई एक बात स्थापित करना चाहता है, तो वह यही है: उपस्थिति को शक्ति में बदलने का प्रश्न अब किसी एक स्त्री के संकल्प का नहीं, अपितु संस्थागत अभिकल्प का प्रश्न है।

References

Ban, R., & Rao, V. (2008). Tokenism or agency? The impact of women's reservations on village democracies in South India. *Economic Development and Cultural Change, 56*(3), 501–530.

Beaman, L., Duflo, E., Pande, R., & Topalova, P. (2012). Female leadership raises aspirations and educational attainment for girls: A policy experiment in India. *Science, 335*(6068), 582–586.

Bhavnani, R. R. (2009). Do electoral quotas work after they are withdrawn? Evidence from a natural experiment in India. *American Political Science Review, 103*(1), 23–35.

Brulé, R. E. (2020). *Women, power, and property: The paradox of gender equality laws in India*. Cambridge University Press.

Chattopadhyay, R., & Duflo, E. (2004). Women as policy makers: Evidence from a randomized policy experiment in India. *Econometrica, 72*(5), 1409–1443.

Chauchard, S. (2017). *Why representation matters: The meaning of ethnic quotas in rural India*. Cambridge University Press.

Childs, S., & Krook, M. L. (2008). Critical mass theory and women's political representation. *Political Studies, 56*(3), 725–736.

Clots-Figueras, I. (2012). Are female leaders good for education? Evidence from India. *American Economic Journal: Applied Economics, 4*(1), 212–244.

Dahlerup, D. (1988). From a small to a large minority: Women in Scandinavian politics. *Scandinavian Political Studies, 11*(4), 275–298.

Dunning, T., & Nilekani, J. (2013). Ethnic quotas and political mobilization: Caste, parties, and distribution in Indian village councils. *American Political Science Review, 107*(1), 35–56.

Fraser, N. (1995). From redistribution to recognition? Dilemmas of justice in a "post-socialist" age. *New Left Review, I*(212), 68–93.

Government of India. (1992). *The Constitution (Seventy-third Amendment) Act, 1992*. Ministry of Law and Justice.

Heinze, A. R., Brulé, R. E., & Chauchard, S. (2025). Who actually governs? Gender inequality and political representation in rural India. *The Journal of Politics, 87*(2). https://doi.org/10.1086/730746

Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464.

Krook, M. L. (2009). *Quotas for women in politics: Gender and candidate selection reform worldwide*. Oxford University Press.

Mansbridge, J. (1999). Should blacks represent blacks and women represent women? A contingent "yes." *The Journal of Politics, 61*(3), 628–657.

Ministry of Panchayati Raj. (2024). *Report of the Advisory Committee on Women Pradhans: Transforming women's representation and roles in Panchayati Raj systems and institutions—Eliminating efforts for proxy participation* (Chair: Sushil Kumar). Government of India.

Molyneux, M. (1985). Mobilization without emancipation? Women's interests, the state, and revolution in Nicaragua. *Feminist Studies, 11*(2), 227–254.

Nussbaum, M. C. (2000). *Women and human development: The capabilities approach*. Cambridge University Press.

O'Connell, S. D. (2020). Can quotas increase the supply of candidates for higher-level positions? Evidence from local government in India. *The Review of Economics and Statistics, 102*(1), 65–78.

Phillips, A. (1995). *The politics of presence*. Clarendon Press.

Pitkin, H. F. (1967). *The concept of representation*. University of California Press.

Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.

Young, I. M. (2000). *Inclusion and democracy*. Oxford University Press.